ISSN 2395-051X

दलित साहित्यकारों का रचनात्मक बोध

राजकुमार
सहा. प्राध्यापक - हिन्दी
शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर, उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सारांश -

भारत का दलित साहित्य परम्परागत साहित्य, सनातनी साहित्य, द्विज साहित्य या अंधश्रद्धाभक्ति से प्रेरित साहित्य नहीं है और न ही उसका पिछलग्गू है। यह साहित्य काल्पनिक दैवीय विधान, ईश्वरीय सत्ता और धार्मिक ग्रंथों की अपौरुषेयता को सिरे से खारिज करता है। धर्मसापेक्षता, रुढ़िपालन, अनर्गल परम्परापालन और स्वार्थवश की गई क्रूर अमानवीय घटनाओं को दलित साहित्य में स्थान नहीं है। "दलित साहित्य उन सारे मिथकों को तोड़ रहा है जिसके कारण एक वर्ग विशेष को सत्ता, धन, धर्म और सम्मान का आरक्षण सदियों से प्राप्त रहा है, और इन मिथकों के टूटने से धर्म का धन्धा करनेवाले इन लोगों की रोजी और रोटी प्रभावित होती है।" भारत का दलित साहित्य मानवीय गरिमा, स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व और लोकतंत्रात्मक व्यवस्था का पोषक और समर्थक है।

मुख्य शब्द - गणराज्य, उपनिवेषवाद, राजद्रोह, वर्णव्यवस्था, धर्मनिरपेक्षता, जातिवाद

सम्राट अशोक के पश्चात् और आजादी से पूर्व का भारत कभी एक राष्ट्र, राज्य या देश नहीं रहा है। वह अनेकानेक रियासतों, क्षेत्रों, कबीलों, गणराज्यों, राजवंशीय राज्यों, उपनिवेशों के रूप में विखण्डित रहा है। आर्यो की गतिविधि का क्षेत्र 'आर्यावर्त' अवश्य एक बड़ा भू-क्षेत्र रहा है जिसका विस्तार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा है। दक्षिण भारत को द्रविड़ देश कहा जाता रहा है। भारत लम्बे समय तक वैदेशिक जातियों- आर्यो, यूनानियों, शर्को, कुषाणों, हूणों, आभीरों, तुर्को, मंगोलों, पठानों और मुगलों के आधिपत्य में भिन्न-भिन्न कालखण्ड में पदाक्रान्त रहा है। चूँकि भारत में सर्वप्रथम आर्यो का शासन एक लम्बे समय तक स्थापित रहने के कारण उनका सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में घोषित-अघोषित, लिखित-अलिखित आर्य-विधान संचालित हो चुका था। आर्यो के उक्त विधान तत्समय भले ही उपयोगी रहे हों, लेकिन कालान्तर में उनके विधि-विधान भारत के पराभाव का कारण बने। विदेशी आक्रान्ता इन तथ्यों को बारीकी से समझ चुके थे कि भारत में सिर्फ क्षत्रिय वर्ण ही हमसे लोहा ले सकता है, जिनकी संख्या मुट्ठीभर है; क्योंकि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में शस्त्रधारण का अधिकार मात्र क्षत्रिय वर्णधारी को ही था। बड़ी संख्या में होते हुए भी शूद्रों का, वैश्यों का शस्त्र धारण करना राजद्रोह के समान दण्डनीय अपराध था। दूसरी तरफ थिंकटैंक (रणनीतिकार) कहे जाने वाले वर्ण को यह चिन्ता नहीं थी कि आर्यावर्त का शासक कौन होगा। वह यह जानता था कि सामाजिक व्यवस्था में वह शीर्ष पर है, इसलिए जो भी इस भारत भूमि का राजकीय स्वामी होगा, वह द्विज समूह का सामाजिक दास होगा।

वैदिककाल से मुगल काल तक शूद्र समाज शिक्षा से वंचित होने के कारण विद्रोह या समाज सुधार

के कार्य-व्यापक स्तर पर संपादित नहीं कर सका। अश्वघोष, चार्वाक, सिद्धों, नाथपंथी, योगियों, कबीर, रविदास, नामदेव, चोखामेला, संत गाडगे आदि ने सामाजिक संकीर्णता और सामाजिक सुधार की बातें की हैं, परन्तु राजनीतिक और धार्मिक संरक्षण के अभाव में वे नक्कारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हुये हैं। शुक्र है कि ब्रिटानी हुकूमत ने इस देश के आम नागरिकों के लिए शिक्षा और रोजगार, नौकरी-पेशा के दरवाजे खोले जिसका लाभ उठाकर तत्कालीन शूद्रसमाज, दलितसमाज, स्त्रीसमाज तथा आदिवासी-समाज स्वयं को, समाज को, देश-विदेश को, लोकतंत्र को, अर्थतंत्र को तथा धार्मिक व्यवस्था को समझ सका और व्यवस्था परिवर्तन हेतु अग्रसर हुआ। ब्रिटिश शासनकाल में ही ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, पेरियार रामास्वामी, बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर, नारायण गुरु और छत्रपति शाहू जी महाराज उच्च एवं उपयोगी शिक्षा प्राप्त कर भारत के भाग्यविधाता बने। स्वतंत्र भारत का दलितसाहित्य, स्त्री- साहित्य, आदिवासी-साहित्य इन्हीं ब्रिटिशकालीन जननायकों और महात्मा बुद्ध, कबीर, रैदास की वैचारिकी का आधार प्राप्त कर स्वतंत्रता पश्चात् संविधान-सम्मत अधिकारों के बल पर अपनी बात तीखे, तार्किक और यथार्थ रूप में रख पाया है। आर्य-ग्रंथों - वेद, पुराण, स्मृतियों, रामायण, महाभारत, गीता आदि ने भारत के दलित-समाज (शूद्र, अन्त्यज, आदिवासी, मजदूर, किसान, स्त्री) को अनेकानेक अतार्किक और स्वार्थी चक्रव्यूह में उलझाकर उनका अनवरत शोषण किया है। उस चक्रव्यूह को तोड़ने का यशस्वी एवं प्रशंसनीय कार्य स्वतंत्र भारत के संविधान ने किया है। संविधान प्रदत्त अधिकारों का उपभोग करने पर ही वंचित समाज को अपने मनुष्य होने का बोध हुआ है। स्वतंत्रता पश्चात् दलित समाज की पहली पढ़ी-लिखी पीढ़ी ने पहली बार अपने हक-अधिकारों को जाना है, अपने इतिहास को पढ़ा है। उसने राष्ट्र-गौरव को समझा है, अपने देश और समाज को समझा है तथा समाजोत्थान के लिए प्रयास किये हैं। दलित-साहित्य-लेखन के पहले कुछ सवर्ण साहित्यकारों ने सहानुभूतिपरक दलित लेखन अवश्य किया है, परन्तु वह उथला और सुविधानुसार है। उसमें पीड़ा का आभास तो है, पर बदलाव का रास्ता नहीं है। एक मायने में वह दलितों को साधने का तरीका है ताकि अतीत से चली आई शोषणकारी व्यवस्था को बरकरार रखा जाए, लेकिन दलित साहित्य के उभार ने उक्त व्यवस्था को पलीता लगा दिया है। "दलित साहित्य हिन्दू धर्म की समस्त मान्यताओं, भाग्य, भगवान, पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा, देवी-देवताओं को नकारता है, क्योंकि इन सभी मान्यताओं के कारण ही हिन्दुओं ने दलितों की शिक्षा तथा उपासना आदि को प्रतिबंधित कर रखा था।"[1] दलित साहित्यकार भावी जान-माल के खतरे को जानते हुए भी उस कटु सत्य का रहस्योद्घाटन करता है, जिसे सदियों से पर्दे के पीछे रखा गया है। तथाकथित उच्च वर्णीय मानसिकता ने दलित समाज सुधारकों, साहित्यकारों- दाभोलकर, पानसारे और कलबुर्गियों को इसीलिए मृत्यु सैय्या पर सुला दिया है कि समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता और तार्किकता का गला घोंटा जा सके, परन्तु दलित समाज-सुधार और दलित साहित्य-आंदोलन निरन्तर प्रगति पर है। दलित साहित्य के बेबाक और गंभीर विचारपरक लेखन का ही परिणाम है कि मराठी भाषा के सशक्त दलित हस्ताक्षर शरण कुमार लिम्बाले को उनके उपन्यास 'सनातन' के लिए बिड़ला फाउण्डेशन से प्रतिष्ठित 'सरस्वती सम्मान' अप्रैल 2021 में प्राप्त हुआ है।

स्वतंत्र भारत में 20वीं सदी के छठे-सातवें दशक से दलित साहित्य लेखन प्रचलन में आने लगा है। वर्तमान तक आते-आते दलित साहित्य एक विशिष्ट पहचान बना चुका है। दलितों के हाथों में कलम पकड़ने

ISSN 2395-051X

की आजादी ने उन तमाम मिथकों को धराशायी कर दिया है, जो पुरातन साहित्य और खण्डित समाज को जीवन का अनिवार्य अंग मानते थे। आज भी वही पोंगापंथी साहित्यकार और धर्म के पुरोधा, दलित साहित्य को घासलेटी साहित्य कहते हैं, क्योंकि वे धार्मिक अपंगता और परम्परागत साहित्यिक पूर्वाग्रह से उबर नहीं पाये हैं। जबकि दलित साहित्य खुले मन से ऐतिहासिक और धार्मिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों की घोर आलोचना करता है और किसी भी स्थिति में वह तथाकथित भारत के गौरवपूर्ण अतीत को पुनः वर्तमान में नहीं देखना चाहता है। भारत का तथाकथित गौरवपूर्ण अतीत शुंगकाल से 1950 तक दलितों का, वृहद् समाज का, राष्ट्र का घोर विनाशक रहा है। जिस अतीत ने धार्मिक पाखण्ड के लिए, मुट्ठीभर समाज के स्वार्थ के लिए, पोंगापन्थ के उत्थान के लिए, जातिवादी व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए, स्त्री और शूद्रों को अधिकार विहीन बनाये रखने के लिए, थोथा विश्वगुरु बनने के लिए; विदेशी आक्रांताओं को आमंत्रित कर और उनकी सहायता कर राष्ट्र को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हो; भला उस कुत्सित अतीत को दलित साहित्य क्यों स्वीकार कर सम्मान देगा? इसलिए स्वतंत्र भारत के दलित साहित्य में आत्ममुग्धता, ईर्ष्या, अंधभक्ति, असम्मान और असमानता को स्थान नहीं है। दलित साहित्यकार कहानी, उपन्यास, कविता, आत्मकथा, जैसी साहित्यिक विधाओं पर बेबाकी से, निडरता के साथ, तार्किक और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर, भोगे हुए यथार्थ के पैमानों पर साहित्य का सृजन 'सबका मंगल हो' की कामना के साथ कर रहा है। वह वंचित समाज को जागरूक करते हुए भोगी हुई यातनाओं को स्मृति में रखे रहना चाहता है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ तकनीक की चकाचौंध में और सामाजिकता और धार्मिकता के छद्म भोलेपन में अपना वजूद न खो बैठें, क्योंकि मिली हुई आज़ादी में इस वर्तमान पीढ़ी की कोई भूमिका नहीं है। जिन्होंने दोहरी गुलामी का दंश झेला है, बौद्धिक स्तर पर देशी और विदेशी सत्ता से दो-दो हाथ किये हैं, उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा को सौम्य धार्मिकता के हवाले नहीं किया जा सकता है।

''दलित सहित्य वर्णव्यवस्था के खिलाफ लिखा गया साहित्य है जो मुख्यतः दलितों द्वारा ही लिखा जा सकता है। दलित कहानियाँ भी इस अपवाद से अछूती नहीं हैं, पर यह तय है कि उन्हें ही दलित कहानी माना जाएगा जिनमें वर्णव्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध की संस्कृति होगी।''[3] कहानी लेखन दलित साहित्यकार की प्रिय विधा है। बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों से वर्तमान तक अनेक दलित लेखकों ने अपने-अपने कहानी संग्रह प्रकाशित कराये है। संग्रहित कहानियों में सामाजिक ताने बाने की सूक्ष्म मर्म-भेदी विसंगतियाँ, अपमान की पीड़ा, भूख का दर्द और समाज के अन्दर समाज तथा जाति के अन्दर जाति का उच्छृंखल भेदक स्वरूप देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि स्वतंत्र भारत का समाज बाहर से खूब आदर्शविचार और आदर्श व्यवहार को कुशलता से प्रदर्शित करता है; परन्तु अन्दर से वह आज भी सनातनी, आडम्बरयुक्त, रुढ़िवादी, जातिवादी, परम्परावादी मानसिकता को छाती से चिपकाये बैठा है। वह मुँह में राम बगल में छुरी दबाये ही रहता है। चूँकि दलित कहानीकार निरपेक्ष भाव से, बिना किसी सामाजिक वैमनस्य से समाज के साथ व्यवहार करता है। इसलिए वह दोहरे चरित्र का आदी नहीं है। वह खुलेमन से स्वीकार या अस्वीकार का विचार-भाव रखता है। वहीं दूसरी ओर जब वह शिष्ट कहे जाने वाले समाज की अँदरूनी तहों तक झाँकता है तब उसे शिष्ट समाज के दो मुँहे चरित्र पर तरस आता है और वहीं से वह अपने अनुभवों को कहानी के माध्यम से शिष्ट कहे

ISSN 2395-031X

जाने वाले बुद्धिजीवी समाज के सम्मुख रखता है। 'सलाम', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'नो बार' (जयप्रकाश कर्दम), 'सिलिया' (सुशीला टाकभौरे), 'साजिश' (सूरजपाल चौहान), 'फुलवा' (रत्नकुमार साँभरिया), 'दलित ब्राह्मण' (सत्यप्रकाश), 'चतुरी चमार की चाट' (वी.एल. नायर) आदि कहानियों में ''हीनभावना से उबरना, निर्मित होता आत्मसम्मान, तनकर खड़ी होती अस्मिता और परिवर्तन का संकल्प विकसित नज़र आता है।''[4]

आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण दलित हमेशा ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्य सूदखोरों से ऋण लेकर सामाजिक-धार्मिक कार्य स्वर्ग-नरक के फेर में करता आया है। सूदखोर भी दलितों के निरक्षर होने का फायदा उठाकर और धार्मिक भय दिखाकर न केवल मनमाना ब्याज वसूलते थे, बल्कि ब्याजगणना भी गणतीय नियमों के विपरीत करते थे। कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में सच्चाई व्यक्त की है। गांव का दबंग चौधरी दलित किसान से सौ रुपये का चार महीना का ब्याज पच्चीस रुपये प्रति सैकड़ा प्रतिमाह की दर से 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' का गणित लगाकर एक सौ पचास रुपये वसूल लेता है, जबकि ब्याज का धन मात्र सौ रुपये ही बनता है। चौधरी किसान से कहता है कि ''सौ रुपये पर हर महीने पच्चीस रुपये ब्याज के बनते हैं। चार महीने हो गये हैं। ब्याज के हो गये पच्चीस चौका डेढ़ सौ।''[5] जयप्रकाश कर्दम ने भी 'नो बार' कहानी में उस सच को उजागर किया है जिसमें सवर्ण लोग जाति-पाँति न मानने का ढोंग करते हैं, लेकिन अन्दरखाने जाति-व्यवस्था का पूरा पालन करते हैं। अन्तरजातीय विवाह के वाह्य समर्थक सवर्ण भीतर से कट्टर विरोधी होते हैं। कहानी में सवर्ण पिता-पुत्री के संवाद से इस तथ्य की पुष्टि होती है- ''वह तो सब ठीक है कि हम जाति-पाँति को नहीं मानते और हमने मैट्रिमोनियल में 'नो बार' छपवाया था, लेकिन फिर भी कुछ चीजें तो देखनी ही होती हैं। आखिर 'नो बार' का मतलब यह तो नहीं कि चमार-चूहड़े के साथ....।''[6] अर्थात् सवर्ण लड़की का विवाह अछूत, दलित जाति के लड़के के साथ सम्पन्न करा दिया जाए। दलित कहानीकारों ने उन तमाम घातक परम्पराओं को तोड़ा है, जिसकी हिम्मत सवर्ण कहानीकार नहीं कर सका है। पुरातन काल से चला आ रहा गैरबराबरी का सामंती और ब्राह्मणी ढाँचा अब धराशायी होने लगा है। लटकी हुई शर्त कहानी में कथाकार प्रह्लाद चन्द्र दास के हवाले से ज्ञात होता है कि सवर्णों के घर विवाह, मृत्युभोज के अवसर पर दलितों को गलियों की धूल में बैठकर भोजन करना पड़ता था और स्वयं की पत्तल भी उठानी पड़ती थी, परन्तु शिक्षा, जागरूकता और स्वाभिमान ने दलितों को उस व्यवस्था से विद्रोह करने को मजबूर किया है तभी तो जमींदार रामकिशन बाबू की पोती के विवाह पर सभी दलित कामकाज अवश्य सम्पन्न कराते हैं, लेकिन जमींदार के दरवाजे भोजन नहीं करते हैं। इतना ही नहीं दलित गंगाराम दुसाध और हरखू चमार उसी दिन पूरे गांव को अपने घर पर खाने का निमंत्रण भी देते हैं, जिसमें किसी को भी अपनी पत्तल नहीं उठाना है। ''गांव की बेटी की शादी में दुसाध-चमार सभी ने जाकर रामकिशन बाबू के यहाँ काम किया जरुर- पर खाया नहीं किसी ने। खाना खाया समानांतर भोज में गंगाराम के यहाँ।''[7] वर्तमान में भी यह शर्त लटकी हुई है कि दलित जमींदारों या सवर्णों के दरवाजे पर किसी अवसर पर भोजन तभी करेंगे, जब उन्हें स्वयं पत्तल न उठानी पड़े और दूसरी शर्त यह कि यदि सवर्ण समाज दलित समाज के हाथों से बना भोजन सामूहिक रूप से दलितों के दरवाजे स्वीकार नहीं करता है, तब भी कोई भी दलित सवर्णों के घर भोजन नहीं करेगा। इस

भारतीय समाज में आज भी दलितों को खाने-पीने की सामग्री के सम्मानजनक व्यापार करने की आजादी नहीं है। कहने को सभी आजाद हैं, परन्तु वास्तविक आजादी अभी भी नसीब नहीं है। इसीलिए बी.एल. नायर की कहानी 'चतुरी चमार की चाट' में चतुरी नामक दलित को सवर्ण लोग चाट का ठेला नहीं लगाने देते हैं। ''क्यों बे साले चमरे! तेरी हिम्मत कैसे हुई यहाँ चाट लगाने की। हम तो समझदार हैं तो बच जायेंगे। लेकिन बेचारे बच्चे क्या जानें। तेरी चाट खाकर सब बेदीन हो जायेंगे।''[8]

कहानीकार बी.एल. नायर ने यह सिद्ध किया है कि व्यक्तिगत रिश्तों में शायद ऊँच-नीच का भाव बहुत ही कम हो चुका है; लेकिन सामूहिकता में, सार्वजनिक स्वीकृति में अछूतपन की भावना, कुलीन एवं वर्ग के उच्चता की भावना रग-रग एवं पग-पग में विद्यमान है; अन्यथा ग्रामीण-समाज के बरख्श शहरी-समाज, जो दिन-प्रतिदिन सूचना-संचार के साधनों से चिपका रहता है, राजनीति की तंग गलियों से राजपथ तक समानता के नारे लगाता है, अन्याय, अस्पृश्यता निवारण के आये दिन भाषण करता है; तब भी वह अन्तस में जातीय श्रेष्ठता, अस्पृश्यता, पाखण्ड और दुर्भावना पाले रहता है। उच्च वर्ग के लिए निम्न वर्ग आज भी प्राचीनकाल और मध्यकाल की तरह त्याज्य है, दास है, पशुतुल्य है, निकृष्ट है, अपवित्र है और प्रत्येक सवर्ण के लिए हरा चारा है : अन्यथा दलित चतुरी चमार को शहर में भी रोजगार बन्द कर गाँव की तरफ वापस न होना पड़ता। यदि वह चतुर होता तो चन्दन चौबे के नाम से ही चाट बेचता रहता, लेकिन अशिक्षा और जागरूकता के अभाव में वह सदियों से मिली जातीय गुलामी की विरासत को त्याग न सका। अर्थात् दलित समाज मानसिक रूप से सामाजिक दुर्व्यवस्था का इतना अधिक शिकार है कि उसे खुद पता नहीं है कि कितने भेड़िये उसका मांस नोचना चाहते हैं। सदियों से गले पड़ी गुलामी की जंजीरें बिना शिक्षा और संघर्ष के टूटने वाली नहीं है; जिसके लिए त्याग और आत्मसम्मान की भावना का प्रबल होना भी बहुत जरूरी है। आत्म सम्मान से गिरा हुआ दलित, धन और शिक्षा बल से सम्पन्न होने के बावजूद भी दासत्व को ही प्राप्त हो रहा है।

सवर्णों का ऐसा व्यवहार भला कभी इस देश को समरस बना सकता है? क्या यही पैमाने हैं भारत को विश्वशक्ति बनाने के? निश्चित तौर पर आज भारत विकासशील नहीं बल्कि अविकसित रुढ़िवादियों, मिथ्या परम्परावादियों, धर्मभीरुओं, अंधभक्तों, कठमुल्लों और पुराणपंथियों का देश है, जहाँ पर गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति सवर्ण और अर्द्धसर्वण मानसिकता में कूट-कूट कर भरी है। ''हिन्दी में प्रकाशित दलित लेखकों की अधिकांश कहानियाँ इसी सत्य को स्थापित करती है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलित होने और एक भिन्न प्रकार के वर्ण में जन्म होने के कारण इस समाज को बराबर हाशिये की जिंदगी गुजारनी पड़ी है अथवा मुख्यधारा के अन्दर रहते हुए भी 'अस्पृश्य' होने की पीड़ा सहनी पड़ी है।''[9]

वैसे तो दलित कविता प्रत्येक युग में अपनी क्षेत्रीय बोलियों में विद्यमान रही है। परन्तु वह कभी भी शास्त्रीय भाषा में भद्रकविता के रूप में स्थान नहीं पा सकी, क्योंकि भद्रजन का साहित्य जन साहित्य नहीं था वह तो पुराणपन्थ का ढकोसला गायन था। मध्यकाल में कबीर और रविदास ने दलित कविता का नेतृत्व किया है। इनके बाद बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हीराडोम और अछूतानन्द ने दलित कथा-व्यथा का गायन किया है। हिन्दी के आधुनिक काल के पुरोधा कवि मात्र द्विज प्रशस्ति और वेद, पुराण, स्मृति गायन में ही मग्न रहे हैं, उन्होंने समाज के प्रति साहित्यिक जवाबदारी को कभी भी स्वीकार नहीं किया है। इसीलिए 1914 में हीराडोम

को भोजपुरी में लिखना पड़ा है कि 'वह भगवान जो प्रहलाद की, गजराज की, द्रोपती की और गोवर्धनवासियों की रक्षा करता है, वह अछूतों की क्यों नहीं सुनता?' सवर्ण कवि सौंदर्य के उपासक थे, कलावादी थे और कविता करना उनका शौक था जबकि ''शोषित, शासित और बहिष्कृत समाज से आये दलित कवियों के लिए कविता शौक न था, अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति का साधन था।''[10] द्विज-पोषक और दलित-शोषक ग्रंथ 'मनुस्मृति' पर किसी सवर्ण कवि की कलम आलोचनात्मक शब्द नहीं उगल सकी है, इसीलिए दलित कवि अछूतानन्द 'हरिहर' ने लिखा है- 'निसनिद मनुस्मृति ये हमको जला रही है ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।' चूँकि दलित कविता का आधार वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक है इसलिए वह तर्कयुक्त भाषा में बात करती है। ''हिन्दी की दलित कविता की भाषा न तो सांकेतिक है और न ही इसके भाव अमूर्त। इसमें एक खास प्रकार की सामाजिकता है जो पाठक अथवा श्रोता को दलित समाज के यथार्थ से गहरी मार्मिक संवेदना के साथ प्रभावित करती है।''[11] इसीलिए वर्णव्यवस्था का खण्डन करते हुए दलित कवि केवलानन्द ने कहा है कि 'यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः मुख, भुजा और उदर से पैदा हैं, तब भला वे वहीं से पैदा क्यों नहीं हो रहे हैं ? वह सभी योनिमार्ग से ही क्यों पैदा होते हैं? फिर सच कहने में शर्म क्यों है ?' 'चाहे नवजागरण काल की हिन्दी कविता हो या छायावाद की, दलित समस्याओं पर किसी भी वर्णवादी साहित्यकार की हिम्मत नहीं पड़ी कि वह दो शब्दों से विघटनकारी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करे, इसीलिए दलित कवि बिहारीलाल हरित द्विज कवियों को फटकारते हैं कि ''करके खुदी को दूर खुद मजबूत बन के देख। दो चार दिन के वास्ते अछूत बन के देख। सिर पर जरा रख टोकरा मैले का टपकता, गन्दगी में बढ़ जरा मल मूत बन के देख।''[12]

भारत की दलित कविता पर सर्वाधिक प्रभाव अम्बेडकरवाद का पड़ा है। अम्बेडकरवादी कवि हर उस व्यवस्था का विरोध करता है जो अवैज्ञानिक है, समतारोधी है, मनुष्यता विरोधी है, पाखण्डवादी है, धर्मभीरु है और अमानुषिक ग्रंथों के विचारों को जीवित किये है। सत्यमित्र 'विद्यालंकार' इसीलिए कहते हैं कि 'मंदिर रक्खें बन्द किसी महमूद गजनवी के खातिर- निज रक्षा जो कर न सकें, किस काम हमारे आयेंगे? इसी तरह का स्वर नन्दकिशोर न्यायी की कविता में भी सुनाई पड़ता है कि ''डुबा दो सागर में वह धर्म, बनाता जो मानव को श्वान। मिटा दो उस संस्कृति के चिन्ह, न रह पाये किंचन भी प्राण।'' स्वतंत्र भारत की दलित कविता हिन्दी भाषा के इतर मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलगू, तमिल, मलयालम, उड़िया, पंजाबी आदि भाषाओं में भी रची जा रही है। इन विविध भाषाओं की दलित कविता में सर्वत्र व्यवस्था का विरोध, पौराणिक धार्मिक ग्रंथों का नकार, हिन्दू धर्म के मिथ्या लोक विश्वासों की पहचान, पण्डा-पुरोहितवाद का विरोध तो दर्ज है ही, साथ में दलित कवि अपने पिछड़े समाज की मुक्ति की कामना भी करता है। उसके काव्यनायक राम, कृष्ण, हनुमान, शिव, गणेश, शक्ति, ब्रह्मा, विष्णु न होकर रावण, शम्बूक, शबरी, अहल्या, एकलव्य, धृतराष्ट्र, कर्ण, घटोत्कच, राजावलि, हिरण्यकश्यप, बालि, महात्मा बुद्ध, अशोक महान, चार्वाक, अश्वघोष, कबीर, रैदास, झलकारी बाई, छत्रपति शाहू जी महाराज, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, पेरियार रामास्वामी नायकर, विरसामुण्डा और डॉ. भीमराव अम्बेडकर हैं। हजारों सालों का सताया हुआ पद दलित समाज अब जागृत और शिक्षित होकर अपनी बात देवी देवताओं की आराधना से नहीं करता है, वह तो वर्णवाद के विनाश और उसके कुचक्रों की बात करता है। दलित कवि मलखान सिंह इसीलिए अपनी कविता (हमारे गांव में) लिखते हैं- ''यदि कोई

प्यासा जन/भूल या मजबूरी वस/हरि कुएँ की जगत पर/पाँव भी रखदे/तो कुएँ का पानी/मूत में बदल जाता है।''[13] भारतीय समाज व्यवस्था का यह कुरूप चेहरा ब्राह्मणी अनुसंधान है जिसे मलखान सिंह 'सुनो ब्राह्मण' कविता में कहते हैं कि ''हमारी दासता का सफर/तुम्हारे जन्म से शुरू होता है/और इसका अंत भी/तुम्हारे अन्त के साथ।''[14]

दलित कविता मुक्ति और सम्मान की कविता है। वह कविता का शृंगार नहीं है बल्कि व्यवस्था से जूझते हुए उबरने का आक्रोशित प्रयास है। वर्णवाद, जातिवाद के शिकंजे ने सामाजोद्धारक शिक्षक को भी बाँध कर रखा है, ताकि दलित पढ़-लिख कर भी सामाजिक गुलाम बना रहे; इसलिए शिक्षक भी अस्पृश्यता बोध से बाज नहीं आते हैं। वर्णवाद का पहाड़ा पढ़ने से नहीं चूकते हैं। जयप्रकाश कर्दम की कविता 'वर्णवाद का पहाड़ा' सच बयाँ करती है कि ''मास्टर जी/हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने/हमें पढ़ाया/जाहिल से आदमी बनाया/तुम्हारी सेवा को/हम अपना धर्म समझते/तुम्हारा हुक्का माँजते/तुम्हें चिलम भरकर देते/तुम्हारे लोटे में/पानी भरने को भी/हम लालायित रहते/किन्तु तुमने पानी पीने के/अपने पीतल के लोटे को/हमारा हाथ कभी नहीं लगने दिया/लोटे में पानी सदैव/सवर्ण छात्रों से ही भरवाया।''[15] हिन्दू वर्ण व्यवस्था से शोषित समाज जब प्रताड़ित होकर आक्रोशित होता है तब वह ईश्वर-भगवान किसी को नहीं छोड़ता है। मोहनदास नैमिशराय की कविता 'ईश्वर की मौत' में यह सुन सकते हैं- ''ईश्वर की मौत/उसी दिन होती है/जब बनता है कोई मंदिर या मठ/जहाँ बैठता है कोई ठग, लुटेरा/गुमराह करने वाला। जब किसी महिला को बनना पड़ता है देवदासी/जाना पड़ता है वेश्यालय।''[16] भारतीय वर्ण व्यवस्था ने धर्म का आवरण ओढ़कर सदैव ही भारतीय समाज को पंगु बनाया है। इसलिए वर्तमान में भारतीय दलित समाज पाखण्डी धर्म से विमुख होना हितकर समझता है। इसी की प्रतिध्वनि असंग घोष की कविता 'धर्म! तुम्हें तिलांजलि देता हूँ' में गुँजायमान हो रही है- ''धर्म!/तुम भी एक हो/मेरे पैदा होने के बाद/जाति के साथ/चिपकने वाले।''[17] इस वर्णवादी, जातिवादी, पुरुषत्ववादी व्यवस्था में दलित नारियाँ तो प्रताड़ित रही हैं, सवर्ण नारियाँ भी प्रताड़ित हैं। मात्र उसके स्वरूप का अन्तर है। कवयित्री रजनीतिलक की कविता 'औरत-औरत में अंतर है' में उद्घोष करती है कि ''औरत-औरत होने में/जुदा-जुदा फर्क नहीं क्या?/एक भंगी तो दूसरी ब्रामणी/एक डोम तो दूसरी ठकुरानी/छेड़ी जाती हैं दोनों ही बेशक/एक कार में, सिनेमा हॉल व सड़कों पर/दूसरी खेतों, मुहल्लों में, खदानों में और/सब सर्वहारा हैं संस्कृति में।''[18] दलित विचारधारा के नजरिये से हिन्दुत्व एक शोषणकारी यंत्र है। वह असमानता का पोषक तथा समाज विध्वंसक है। इस हिन्दुत्व की व्याख्या नवेन्दु महर्षि अपनी कविता 'एक अपाहिज धर्म' में इस तरह से करते हैं कि- ''हिन्दुत्व ने हमेशा/ब्राह्मणों का ही/भला किया है/इसलिए आज से/वे ही इसे सँभालें/जिन्हें कि यह केवल/जूतियाँ बनाने भर के लिए/हिन्दू समझता है/अब ये /चालीस करोड़ दलित रूपी पैर/कटकर/अलग होना स्वीकार कर चुके हैं।''[19] मनुस्मृति द्वारा बलात् लादी गई निर्योग्यताओं, अपमान को दलित कवि भूल नहीं पाया है क्योंकि आज भी अघोषित रूप से मनु का संविधान भारतीय समाज व्यवस्था में लागू है। कवि कल्पना करता है कि यदि वेद, पुराण और स्मृतियों के विधान विपरीत रीति का संपादन करते, तब निश्चित ही सवर्णो की निष्ठाएँ दलितों के प्रति भिन्न होती। तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?' कविता में कवि कँवल भारती लिखते हैं कि- ''यदि स्मृतियों का यह विधान/लागू हो जाता/तुम

ब्राह्मणों, ठाकुरों और वैश्यों पर/कि तुम नीच हो/शमशान-भूमिवत हो/तुम्हारे आवास हों गांव के बाहर/तुम्हारे पेशे हों घृणित/मरे जानवरों को उठाना/ मल-मूत्र साफ करना/कपड़े धोना, बाल काटना/हमारे खेतों-घरों में दास-कर्म करना।/तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?''[20] निश्चित ही तब वह निष्ठा समानता बोध के लिए तड़पती और वेदकारों, स्मृतिकारों को पानी पी-पीकर कोसती तथा जो सवाल आज का दलित साहित्यकार सवर्ण सत्ता से करता है, वही सवाल तब आज का सवर्ण उन ग्रंथकारों से करता, जिन्होंने इस समाज को विभिन्न जाति-वर्णों में बाँटकर विदेशियों का शासन इस भारत-भूमि पर कराया है।

यदि दलित वंचक समाज को सबसे अधिक झकझोरा है, उद्‌वोधित किया है, आन्दोलित और आक्रोशित किया है तो दलित आत्मकथाओं ने। इस साहित्यिक विधा के माध्यम से दलित समाज चैतन्य हुआ है। इक्कीसवीं सदी की नयी पीढ़ी ने भले ही प्रत्यक्षतः जातीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न न सहा हो, परन्तु वह रोम-रोम में सिहरन पैदा करने वाली आत्मकथात्मक घटनाओं को पढ़कर, सुनकर उद्‌वेलित अवश्य होता है तथा उस अतीत की घटिया मनुष्यता विरोधी घटनाओं को पुनः घटित न होने के लिए कृतसंकल्पित होता है। यही इन आत्मकथाओं का प्रदेय है। मोहनदास नैमिशराय (अपने-अपने पिंजरे-1995), ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन-1997 एवं भाग-2 2015), कौशल्या बैसन्त्री (दोहरा अभिशाप-1999), के. नाथ (तिरस्कार-1999, जाति अपराध-2005, काँटों में उलझता जीवन-2011, चरवाह-2013), डी.आर. जाटव (मेरा सफर मेरी मंजिल-2000), माताप्रसाद (झोपड़ी से राजभवन-2002), सूरजपाल चौहान (तिरस्कृत-2002, संतप्त-2006), डॉ. श्यामलाल (एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी-2004), नवेन्दु महर्षि (इंसान से ईश्वर तक-2006, मेरे मन की बाइबिल-2007, रुकी हुई रोशनी-2011), रमाशंकर आर्य (घुटन-2007), रूपनारायण सोनकर (नागफनी-2007), श्यौराज सिंह चौहान (मेरा बचपन मेरे कंधों पर-2009), डॉ. धर्मवीर (मेरी पत्नी और भेड़िया-2009), तुलसीराम (मुर्दहिया-2010, मणिकर्णिका-2014), सुशीला टाकभौरे (शिंकजे का दर्द-2011), संतराम आर्य (मेरा अतीत-2012), उमेश कुमार सिंह (दुःख-सुख के सफर में-2014), विश्वनाथ राम (गोबरहा-2016), रजनी तिलक (अपनी जमीं अपना आसमां) आदि आत्मकथाओं ने दलित जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को बड़ी सिद्दत और तार्किक ढंग से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। दलित आत्मकथाकारों ने उत्पीड़न, शोषण, गरीबी, अशिक्षा, जातिभेद, अस्पृश्यता, अंधविश्वास, कुप्रथा, पिछड़ापन, अज्ञानता, आंतरिक जातिवाद को भलीभाँति उजागर किया है। अर्थात् दलित आत्मकथाओं ने सम्पूर्ण दलित-गैरदलित समाज और साहित्य को सोचने के लिए मजबूर कर दिया है। ''दलित आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवन की त्रासदी भर नहीं हैं, ये सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की क्रूरता पर प्रश्नचिन्ह हैं। यह अभिजात्य या कुलीन मानसिकता द्वारा उत्पन्न अमानवीय परिस्थितियों का आख्यान है तथा उसकी क्रूर निष्ठुर हो चुकी संवेदनाओं को झकझोरने का प्रयत्न है।''[21]

सन्दर्भ -

1. सिंह, डॉ. एन. - दलित चिंतन : अनुभव और विचार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015

ISSN 2395-051X

2. सिंह, डॉ. एन. - दलित चिंतन : अनुभव और विचार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
3. चौबे , देवेन्द्र - आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, प्रकाशक - ओरियंट ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
4. गुप्ता, रमणिका (संपा.) - दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादमी, प्रकाशक - फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003
5. वही
6. भारती, कँवल (संपा.) - दलित निर्वासित कविताएँ, प्रकाशक - प्रिंटोग्राफर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पुनर्मुद्रण 2012
7. वही
8. वही
9. चौबे, देवेन्द्र - आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, प्रकाशक - ओरियंट ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
10. चौबे, देवेन्द्र - आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
11. चौबे, देवेन्द्र - आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
12. वही
13. भारती, कँवल (संपा.) - दलित निर्वासित कविताएँ, प्रकाशक - प्रिंटोग्राफर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पुनर्मुद्रण 2012
14. वही
15. वही
16. वही
17. वही
18. वही
19. वही
20. वही
21. जैन, पुनीता - दलित आत्मकथाएँ : एक मूल्यांकन, प्रकाशक - सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण- 2020